प्रातःस्मरणीय मुमुक्षुजीवोंके परम तारणहार, पंचमकालमें अध्यात्म अमृतकी वर्षा करनेवाले निष्कारण करुणाशील सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री शशीभाई के समाधिदिन पर उनके चरणोंमें कोटी कोटी वंदन

जिन सत्पुरुषोंने जन्म, जरा और मरणका नाश करनेवाला, स्वस्वरूपमें सहज अवस्थान होनेका उपदेश दिया हैं, उन सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणाकी नित्य प्रति निरंतर स्तुति करनेसे भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है। ऐसे सर्व सत्पुरुषोंके चरणारविंद सदा ही हृदयमें स्थापित रहे।

सत्पुरुषोंने सद्‌गुरुकी जिस भक्तिका निरुपण किया है, वह भक्ति मात्र शिष्यके कल्याणके लिये कही है। जिस भक्तिको प्राप्त होनेसे सद्‌गुरुके आत्माकी चेष्टामें वृत्ति रहे, अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छंद मिटे, और सहजमें आत्मबोध हो, ऐसा जानकर जिस भक्तिका निरूपण किया है, उस भक्तिको और उन सत्पुरुषोंको पुनः पुनः त्रिकाल नमस्कार हो।

(श्रीमद् राजचंद्र, पत्रांक-४९३)

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्–२५४८: अंक–२९२, वर्ष–२४, अप्रैल–२०२२

आषाढ़ कृष्ण १३, शनिवार, दि. १६–७–१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा–९०, प्रवचन–३६

'सम्यक्त्वी ही पण्डित व प्रधान है।' प्रधान है न? प्रधान; प्रधान का अर्थ मुख्य किया। बुहु का अर्थ पण्डित किया है।

जो सम्मत्त-पहाण बुहु सो तइलोय-पहाणु।
केवण-णाण वि लहु लहइ सासय-सुक्ख-णिहाणु।।९०।।

ओ...हो..हो..! दिगम्बर सन्तों ने काम किया है न! बहुत संक्षिप्त शब्दों में पूरा सार... सार। योगसार है न! अपने स्वआश्रय से जो पर्याय प्रगट हुई, उसका नाम योग कहते हैं। वह योग का सार है। पर के आश्रय से जो राग होता है, वह योगसार नहीं है। समझ में आया?

'जो सम्यग्दर्शन का स्वामी है...' 'बुहु' 'वह पण्डित है।' आहा...हा...! वही पण्डित है। भगवान आत्मा... आत्मा समझे वह पण्डित, दूसरा पण्डित कौन है? ग्यारह अंग नौ पूर्व भी अनन्त बार पढ़ गया, वह पण्डित नहीं हुआ, फिर नाश हो गया। ग्यारह अंग नौ पूर्व पढ़ा, आत्मा का आश्रय नहीं लिया, सम्यग्दर्शन नहीं हुआ (तो) ग्यारह अंग नौ पूर्व नष्ट हुआ, निगोद में चला गया। निगोद में अक्षर के अनन्तवें भाग (ज्ञान) रह गया, इतना क्षयोपशम, परन्तु वह क्षयोपशम स्व का कहाँ था? पराश्रय था, वह भी कल्याण का कारण नहीं है। ग्यारह अंग और नौ पूर्व का क्षयोपशम भी कल्याण का कारण नहीं है। समझ में आया? क्योंकि पराश्रय है।

भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति में एकाग्र होकर उसमें से ज्ञान का कण निकालना। ज्ञान का कण! लो, फिर कण याद आया। है न 'परमार्थवचनिका' में? स्वरूप की कणिका जगी – ऐसा पाठ है। स्वरूप की कणिका जगी। दृष्टि और ज्ञान से स्वरूप की चारित्र के अंश (की) कणिका जगी, (वह) मोक्षमार्ग है, वरना मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थवचनिका, बनारसीदास... बनारसीदास महापण्डित! यथार्थ तत्त्व (कहा है)। वर्तमान पण्डितों पर बहुमान नहीं, हम तो सब पण्डितों को जानते हैं, वे तो एक ही पण्डित हैं हम तो सब शास्त्रों को जानते हैं, हम तो सबसे बड़े, शास्त्र से बड़ा क्या है? नौ पूर्व पढ़ा उसमें बड़ा क्या आया?

यहाँ कहते हैं **'सम्यग्दर्शन का स्वामी है...'** देखो! **'पहाण'** का अर्थ किया है। प्रधान कहा न? प्रधान! सम्यक्स्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण तत्त्व-शुद्ध तत्त्व में अन्तर्मुख होकर जिसने स्व आश्रय सम्यग्दर्शन प्रगट किया, वही जगत में प्रधान अथवा स्वामी अथवा **'बुहु'**, वही पण्डित है। उसने सब जाना – ऐसा कहते हैं। उसने सब जाना। 'एक जाने सब होत है, सबसे एक न होय'। आहा...हा...! उसे केवलज्ञान आयेगा।

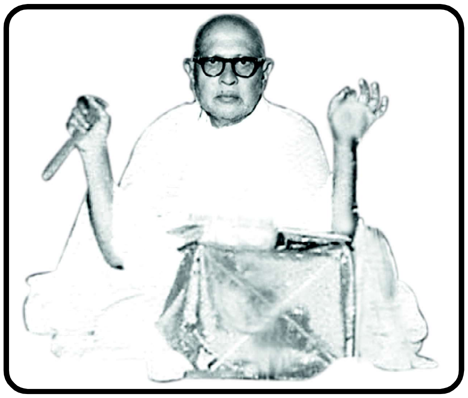

केवलज्ञान की पर्याय ज्ञानगुण में पड़ी है, ज्ञानगुण में अनन्त पर्याय पड़ी है केवलज्ञान की, अनन्त पर्याय। सादि-अनन्त पर्याय जितनी है, वे सब ज्ञान में पड़ी हैं। ऐसे ज्ञायक की दृष्टि हुई तो केवलज्ञान लायेगा, लायेगा और लायेगा। एक-दो भव में केवलज्ञान लेकर छूटेगा, उसका केवलज्ञान बदलेगा नहीं – ऐसी चीज है। उसकी साक्षी तो आत्मा दे या कोई दे? समझ में आया? आहा...हा...!

कहते हैं, भगवान आत्मा जिसे सम्यग्दर्शन प्रधान है, जिसकी दृष्टि में आत्मा प्रधानरूप से प्रतीत में, ज्ञान में वर्तता है, वही जगत में स्वामी, सच्चा प्रधान पुरुष कहा जाता है। प्रधान लिया न? '**सम्मत्त-पहाण बुहु सो तइलोय-पहाणु**।' '**वही तीन लोक में प्रधान है**।' रत्नकरण्ड श्रावकाचार में बहुत लिया है। सम्यक्त्व तो करणधार है, करण में आधार है। इस सम्यक्त्व के बिना ज्ञान-चारित्र, व्रत, सब व्यर्थ हैं, पत्थर जैसे हैं। रत्न की, चैतन्यरत्न की दृष्टि अपने निर्विकल्प स्वरूप का भान न हुआ, तब तक उसे ज्ञान नहीं कहा जाता।

'**तीन लोक में प्रधान है...** ' तीन लोक में प्रधान! ओ...हो..हो..! 'लेश न संयम' आता है न? छहढाला में नहीं आता? 'पै सुरनाथ जजै हैं' सम्यग्दर्शन लेश न संयम, फिर भी सुरनाथ जजै हैं। घर में है ही नहीं, स्वभाव में ही है। इस भगवान आत्मा पर दृष्टि पड़े, उसमें ही रहा है। राग आता है, उसमें रहा है? उसमें अपनी रुचि है? वहाँ है?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी चिदानन्द दृष्टि में अनुभव में आया तो कहते हैं कि तीन लोक में सम्यग्दृष्टि प्रधान है और '**सासय-सुक्ख-णिहाणु केवण-णाण वि लहु लहइ**।' '**अविनाशी सुख का निधान...**' अविनाशी सुख का निधान केवलज्ञान, हाँ! पर्याय की बात है। अविनाशी सुख की पर्याय का निधान केवलज्ञान, उस केवलज्ञान को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। केवलज्ञान को तो बुलाता है। सम्यक्ज्ञान, मतिज्ञान, केवलज्ञान को बुलाता है। समझ में आया? गणधर को भी सर्वज्ञ के पुत्र कहे हैं। सर्वज्ञ के पुत्र! ईशु कहते हैं कि ईश्वर का पुत्र। यह तो कहते हैं, गणधर सर्वज्ञ के पुत्र हैं। आहा...हा...! ऐसे यहाँ सम्यग्दृष्टि लघुनन्दन है। है या नहीं? 'ते जगमाँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन, ते जगमाँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन' आता है न? 'भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भया जिम चन्दन, कैलि करे शिवमारग माहि, जगमाँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन' आहा...हा...! वहाँ गणधर को सर्वज्ञ के पुत्र कहे हैं। यहाँ तो सम्यक्त्वी को केवलज्ञान का पुत्र कहा है, लघुनन्दन। साधु बड़े नन्दन हैं, सम्यक्त्वी लघुनन्दन हैं। अपना सर्वस्व सम्पूर्ण चैतन्य प्रभु में दृष्टि करके, उसके आश्रय से जहाँ प्रभुत्व प्रगट हुआ तो वह केवलज्ञान का लघुनन्दन ही है। आहा...हा...! जब तक ऐसी अन्तर में महिमा न आवे और अपने क्षयोपशम ज्ञान की... समझ में आया? या किसी राग की मन्दता की अधिकता दृष्टि में रहे और सम्यग्दृष्टि को, कि जिन्हें अपने स्वरूप की दृष्टि है, उसकी अधिकता, अपने से भिन्न अधिक है – ऐसा बहुमान न आवे, तब तक उसे स्वद्रव्य का आश्रयभाव प्रगट नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया?

योगसार! '**सम्यग्दर्शन सर्व गुणों में प्रधान है**।' अब थोड़ा विस्तार करेंगे। समस्त गुणों में मुख्य मूल तो यह है। 'दंसण मूलो धम्मो' – भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का वाक्य है। यहाँ चार वाक्य लिखे हैं – 'दंसण मूलो धम्मो', 'द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि',

'दर्शनशुद्धि से आत्मसिद्धि', यहाँ 'पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत, वही वास्तविक शुरुआत है'। चार चाकले हैं। चार, समझ में आया? दंसण मूलो धम्मो... धर्म भले ही चारित्र, परन्तु उसका मूल तो दर्शन है। मूलं नास्ति कुतो: शाखा – जहाँ मूल ही नहीं वहाँ वृक्ष कैसा, ज्ञान कैसा, तप कैसा, निर्जरा कैसी? समझ में आया?

कहते हैं, '**सम्यग्दर्शन सर्व गुणों में प्रधान है। इसके होते हुए ज्ञान सम्यग्ज्ञान व चारित्र सम्यक्‌चारित्र हो जाता है। जैसे, १ के अंकसहित बिन्दी सफल होती है,...**' एक अंक हो एक तो शून्य सफल है। नौ बढ़ा देती है, तो उस अंक की प्रधानता है, शून्य की प्रधानता नहीं। असंख्यात अनन्त शून्य हों, (परन्तु) एक के बिना संख्या किस प्रकार करना? शून्य (अंक के) बिना सफल नहीं, निष्फल है। '**नहीं तो निष्फल होती है, वैसे सम्यक्तसहित ज्ञान व चारित्र मोक्ष की तरफ ले जानेवाले हैं।**' क्योंकि अपने द्रव्यस्वभाव की दृष्टि स्वसन्मुख, स्व आश्रय से हुई, वही दर्शन स्वसन्मुख में ले जाने का कारण है, वही दृष्टि स्वसन्मुख में ले जाने का कारण है, क्योंकि स्वसन्मुख में ले जाने पर, ले जाने से केवलज्ञान हो जाएगा, समझ में आया? सम्यग्दर्शन में व्यवहार से, विकल्प से भी वह तो मुक्त है। व्यवहार है अवश्य, होता है परन्तु सम्यग्दर्शन का ध्येय तो स्वरूप में है, दृष्टि द्रव्य पर है, पर्याय का परिणमन द्रव्य पर हो गया है, वह राग से तो मुक्त है।

वह सम्यग्दृष्टि क्रम-क्रम से मोक्ष की ओर ले जानेवाली है अर्थात् अबन्ध परिणाम की उग्रता तरफ ले जानेवाला सम्यग्दर्शन है। बन्ध परिणाम की तरफ से छूटता है, अबन्ध परिणाम की तरफ ले जानेवाला है। आहा...हा...! क्योंकि अबन्ध स्वभावी द्रव्य, अबन्ध स्वभावी – ऐसा द्रव्यदृष्टि में आया तो अबन्ध स्वभावी परिणाम भी उसके सन्मुख चला जाता है। अबन्ध स्वभावी परिणाम कहो या मोक्ष का मार्ग कहो। मोक्षमार्ग कहो या अबन्ध परिणाम कहो (एकार्थ है)। जब सम्यग्दर्शन, अबन्ध स्वभावी द्रव्य के आश्रय से उत्पन्न हुआ तो वह क्रम-क्रम से अबन्ध परिणाम की तरफ ही झुकता है, केवलज्ञान तक ले जाता है। समझ में आया?

'**यदि सम्यक्त्व न हो तो केवल पुण्य बाँधकर संसार के भ्रमण के ही कारण है।**' स्व का आश्रय नहीं हुआ और केवल पर के आश्रय से दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति करता है (तो) पुण्य है, संसार का कारण है। बन्ध का कारण कहो या पर का आश्रय भटकने का कारण है।

'**जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं है...**' मूल के बिना वृक्ष होता है? '**नींव के बिना घर नहीं है, वैसे ही सम्यक्त्व के बीज बिना धर्मरूपी वृक्ष नहीं होता...**' कहो समझ में आया? '**जिसे अनेक शास्त्रों का ज्ञान हो परन्तु सम्यक्त्व न हो तो वह ज्ञानी पण्डित नहीं है।**' ओहो...हो...! एक मेंढ़क, आत्मा का आश्रय करके – यह आनन्द है... नौ तत्त्वों के शब्दों का ख्याल नहीं (परन्तु) यह अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, यह इनसे विरुद्ध जो रागादि हैं, वे आनन्द की जाति नहीं हैं, दु:ख है। बस! इसमें सब आ गया, आनन्द का पूर्ण स्वरूप वह जीव है, उससे विरुद्ध वह अजीव है। आनन्द की ओर की रुचि, प्रीति का परिणमन होना, वह संवर, निर्जरा है। उससे राग (विपरीत है), वह आश्रव-बन्ध का ज्ञान हुआ। समझ में आया? शब्दों की कोई आवश्यकता नहीं है, वहाँ भाव की आवश्यकता है। आहा..हा..!

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का स्पर्श हुआ तो सारा-नवतत्त्व का ज्ञान हो गया। समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि, भास हुआ, वेदन हुआ तो पूरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है, वह जीव हुआ। वह पर्याय प्रगट हुई, वह संवर निर्जरा हुए इनसे विरुद्ध जितने यह पुण्य-पाप के विकल्प आकुलता है, वह आनन्द की जाति नहीं, उसका ज्ञान हो गया और इस द्रव्य से विरुद्ध अन्य द्रव्य हैं, यह आनन्दमूर्ति पूर्ण है, इससे विरुद्ध हैं, वे सब अजीव हैं।

मुमुक्षु : ऐसी विद्या कहाँ से याद रखना?

उत्तर : यह आयी न, देखो न! यह कहते हैं न, क्या कहते हैं? विद्या क्या वहाँ कहीं रटना है? शब्द रटना है? अन्तर्मुख की दृष्टि हुई, वहाँ सर्वस्व हुआ। यह पाठ तो चलता है। पाटनीजी! आहा...हा...! समझ में आया?

'सम्यक्त्व न हो तो वह ज्ञानी पण्डित नहीं है, सम्यक्त्व हो तो ही वह ज्ञानी है। उसका शास्त्र ज्ञान सफल है। द्वादशांग वाणी का सार यही है कि अपने आत्मा को परद्रव्यों से, परभावों से भिन्न...' परद्रव्य और परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न हुए भाव, उनसे **'भिन्न शुद्ध द्रव्य जाना जाए...'** अकेला प्रभु शुद्ध स्वरूपी जाने, समझ में आया?

वहाँ यह कहा न? छठवीं गाथा में यह कहा, परद्रव्य से भिन्न **'उपास्यमानः'** ऐसा शुद्ध कहा जाता है। यह 'समयसार' की छठवीं गाथा - **'ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो'** परद्रव्य से भिन्न, **'उपास्यमानः'** क्योंकि परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर यहाँ उपास्यमान हुआ तो शुद्धता प्रगट हुई। शुद्धता प्रगट हुई तो यह पूरा (आत्मा) शुद्ध है, उसके लिए शुद्ध है। शुद्ध पर्याय प्रगट न हो तो वह शुद्ध द्रव्य आया कहाँ से? वहाँ ऐसा कहते हैं। **'उपास्यमानः'** उसे कहते हैं। समझ में आया? अपना आत्मा शुद्ध है।

'ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो। एवं भणंति सुद्धं' - यह शुद्ध है - ऐसा किसे हुआ? जिसको परद्रव्य का लक्ष्य, आश्रय छोड़कर अपनी ओर का उपास्यमान हुआ तो पर्याय ने द्रव्य की सेवा की तो पर्याय में शुद्धता प्रगट हुई, उस शुद्धता से जाना कि यह शुद्ध है, शुद्ध तो त्रिकाल द्रव्य शुद्ध है। समझ में आया? तब त्रिकाल द्रव्य शुद्ध है। पर्याय के वेदन बिना यह शुद्ध है, यह आया कहाँ से? वहाँ ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा ज्ञायक शुद्ध परन्तु इस शुद्धता के भान बिना परद्रव्य से हटकर निजद्रव्य का आश्रय लिया तो आश्रय की पर्याय में शुद्धता आयी और शुद्धता द्वारा (जाना कि) यह द्रव्य शुद्ध है। त्रिकाल द्रव्य शुद्ध है, यह त्रिकाल द्रव्य शुद्ध ही है। समझ में आया?

इस द्वादशांग की वाणी का सार यह है कि **'परभावों से भिन्न शुद्धद्रव्य जाना जाये...'** वरना तो वस्तु, द्रव्य तो शुद्ध ही है परन्तु शुद्ध है - ऐसा भास आये बिना शुद्ध किसने माना? समझ में आया? वह त्रिकाल शुद्ध है परन्तु त्रिकाल शुद्ध है, वह कोई वाणी का विषय है? क्या धारणा का विषय है? यह शुद्ध है; परद्रव्य का लक्ष्य, व्यवहार का (लक्ष्य) अर्थात् पराश्रय छोड़कर स्वद्रव्य का आश्रय लिया तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान की शुद्धता हुई उसके द्वारा (जाना कि) यह पूरा शुद्ध है, उसे शुद्ध है, उसे द्रव्य शुद्ध है। समझ में आया? परद्रव्य के आश्रय से अशुद्धता का सेवन है और यह द्रव्य शुद्ध है - ऐसा कहाँ से आया? समझ में आया?

मुमुक्षु : सर्वज्ञ भगवान जानते हैं कि द्रव्य शुद्ध है।

उत्तर : सर्वज्ञ भगवान जाने, उसमें इसे क्या आया? भगवान तो जानते हैं, प्रभु तुम जाणग रीति, सहू जग देखता हो लाल.... प्रभु तुम जाणग रीति, सहू जग देखता हो लाल... निजसत्ता ए शुद्ध सहूने पेखता हो लाल...' हे नाथ! आपकी जानने की रीति में प्रत्येक आत्मा सत्ता से शुद्ध है - ऐसा आप देखते हो। क्योंकि पुण्य-पाप है, वह कहीं आत्मा नहीं है। कर्म, शरीर अजीव है; पुण्य-पाप आस्रव है। भगवान देखते हैं - प्रभु तुम जाणग रीति सहू जग देखता, निजसत्ता ए शुद्ध सोने पेखता... सम्पूर्ण द्रव्य को-आत्मा को भगवान शुद्ध ही देखते हैं, परन्तु वे देखते हैं। तेरे देखने (जानने) में आये बिना तुझे शुद्ध कहाँ से आया? ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! है?

मुमुक्षु : ...

उत्तर : नहीं, सबको देखते हैं परन्तु आत्मा को शुद्ध देखते हैं - ऐसा कहते हैं। भगवान, आत्मा को शुद्ध देखते हैं। वे तो देखते हैं, परन्तु वे तो पर हैं, यह आत्मा नहीं। समझ में आया? केवलज्ञानी आत्मा को

कैसा देखते हैं? समस्त आत्माओं को... आत्मा को देखते हैं तो आत्मा क्या है? आत्मा शुद्ध है। राग को देखते हैं तो आस्रवतत्त्व को देखते हैं। कर्म, शरीर को देखते हैं तो अजीवतत्त्व को देखते हैं। आत्मा क्या? तुम्हारे में ऐसा आत्मा देखा है, भगवान समस्त आत्माओं को शुद्ध ही देखते हैं। राग को देखते हैं, वह आत्मा नहीं है - ऐसा देखते हैं। उसे तो अनात्मारूप से भगवान देखते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

एक समय की पर्याय देखते हैं, रागादि की एक-एक समय की पर्याय (देखते हैं), जड़ की पर्याय एक-एक समय की (देखते हैं)। तीन काल-तीन लोक के अविभाग प्रतिच्छेद एक-एक भिन्न-भिन्नरूप से देखते हैं परन्तु आत्मा देखते हैं, इसका अर्थ क्या? आत्मा किसे कहते हैं? क्या पुण्य-पाप को आत्मा कहना? सात तत्त्व में यह तत्त्व तो भिन्न है। सात तत्त्व है या नहीं? तो शरीर, वाणी, कर्म, अजीवतत्त्व में आये? पुण्य-पाप तत्त्व, आस्रवतत्त्व में आये। तो आत्मा क्या है?

आत्मतत्त्व में आस्रवतत्त्व का अभाव है, आस्रवतत्त्व में आत्मा का अभाव है, अजीव में आस्रव का अभाव है, इसमें तो बहुत बड़ी बात है। कर्म के उदय से आस्रव होता है - ऐसा कहो तो कर्म का उदय अजीव पर्याय है। अजीव पर्याय है तो आस्रवतत्त्व (और अजीव तत्त्व) दो एक हो जाते हैं। अजीव, अजीवरूप से भगवान देखते हैं और आस्रव को आस्रवरूप से देखते हैं। इस कारण से आस्रव और आस्रव के कारण से अजीव है - ऐसा नहीं है और आस्रव है तो आत्मा है तथा आत्मा है तो आस्रव है - ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागमार्ग अर्थात् चारों ओर से वस्तु को देखो तो सत्य ही खड़ा होता है; एक ही प्रकार खड़ा होता है। चारों ओर से देखो, हाँ! वस्तु सत्य है तो उसमें दूसरा क्या निकले। समझ में आया? समझ में आता है या नहीं? सुभाषचन्द्रजी! आहा...हा...!

'प्रभु तुम जाणग रीति...' परन्तु यह तो वे जानते हैं, वही कहते हैं न? कि भगवान ने जाना। भगवान ने जाना उसमें तुझे क्या? भगवान तो तीन काल-तीन लोक को, सामान्य और विशेष एक-एक समय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद भिन्न-भिन्न भगवान जानते हैं, दिव्यज्ञान किसे कहते हैं? ओ...हो...हो...! जिसकी ज्ञान पर्याय अकेली निरावरण, निर्मलानन्द हो गयी.... लोकालोक क्या? उससे अनन्त गुना हो तो जानने की ताकत है। स्वभाव की मर्यादा क्या? ज्ञान की एक समय की पर्याय स्वभाव है। स्वभाव में माप नहीं, स्वभाव में हद नहीं। अमाप... अमाप... अमाप... इससे अनन्तगुना लोकालोक हो तो एक समय में जानने का सहज सामर्थ्य है। समझ में आया?

(प्रवचन का शेष अंश अगले अंकमें...)

पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रवचन अब You tube पर

परम उपकारी पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रकाशित पुस्तकों के प्रवचन गुजराती एवं हिन्दी भाषा के Subtitle साथ अब देखिये। You tube में Satshrut prabhavna channel पर जाकर यह प्रवचन सुन सकते हो। यह प्रवचन पूर्ण होने के बाद राज-हृदय, कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के ग्रन्थ पर हुए प्रवचनों का प्रारम्भ किया जायेगा। हर रविवार सुबह ११ बजे इन प्रवचनों का जीवंत प्रसारण होता है, जिसका सर्व मुमुक्षुओं को लाभ लेने की विनती। Channel को Subscribe करने से आगामी प्रसारित प्रवचन का Notification स्वयं ही प्राप्त हो जायेगा।

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथके वचनामृत-२६१ पर भाववाही प्रवचन, दि. २९-५-१९८३, प्रवचन क्रमांक-११८ (विषय : मार्गदर्शन)

डॉ. गांगुली :- व्रत-तप-त्याग करनेसे आत्माके ऊपरका छालरूपी मैल निकल जाता है न?

पू. गुरुदेवश्री :- नहीं, यह तो राग है। इन व्रत-तप आदिके रागको अपना मानना-यह तो मिथ्यात्व है-अपराध है-भ्रमणा है।

डॉ. गांगुली :- तो साधारण जीवोंको तो ये व्रतादि करना ठीक है न?

पू. गुरुदेवश्री :- नहीं, साधारण जीवोंको भी इन व्रतादिसे धर्म नहीं, इनसे जन्म-मरणका अन्त आने वाला नहीं, इनमें लाभ-बुद्धिसे तो जन्म-मरण बढ़ते हैं। २६१.

(४३:१० मिनटसे...)

डॉक्टर गांगुली कलकत्ता से बहुत बार आते थे तब प्रश्न पूछते थे। उनके कुछ एक प्रश्न इसमें लिये हैं। उन्होंने एक बार पूछा था कि '**व्रत-तप-त्याग करनेसे आत्माके ऊपरका छालरूपी मैल निकल जाता है न?**' अब, उनके प्रश्न पूछने का कारण है। हमारा परिचय था। (संवत) २०३३ की साल में कलकत्ता पर्युषण में जाना हुआ तब गुरुदेवश्री का स्वास्थ्य भी अस्वस्थ रहता था। इसलिये कुछ डॉक्टरों के साथ वहाँ कन्सल्टींग रखा था, उसमें उनके साथ भी रखा था। होमियोपथी के अच्छे-अच्छे पाँच-छः डॉक्टरों के साथ कन्सल्टेशन किया था। फिर ये डॉक्टर सिर्फ डॉक्टर ही है ऐसा नहीं है, परन्तु उनकी विशेषता यह है कि धार्मिक वृत्ति के इन्सान हैं। अभी तो उन्होंने निवृत्ति ले ली है। कहीं कोई आश्रम में उस ओर रहते हैं। उन्होंने पहले से ही निर्णय किया था कि अमुक उम्र तक ही प्रवृत्ति करनी। छोटे भाई का कुटुम्ब है, माँ है। स्वयंने विवाह नहीं किया था, धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिये।

वैसे तो हिन्दु वेदांत की मान्यतावाले हैं। परन्तु एक धार्मिक आस्थावाले हैं और एक धर्मकार्य करना उसमें भी इतनी आस्था होती है। अतः यहाँ आने के बाद उन्होंने देखा कि यह एक बहुत अच्छा प्रसंग है। अतः बुद्धिवान मनुष्य थोड़ा गहराई में जाने का प्रयत्न करते थे। इसलिये वे, मात्र डॉक्टर के हिसाब से नहीं परन्तु गुरुदेवश्री के प्रवचनों का लाभ लेने के लिये भी कभी-अभी आते थे। अतः वे रस लेते थे। प्रवचन में रुचि रखते थे, चर्चा में भी रस लेते थे। प्रवचन में पूछते थे। चर्चा में भी रात को प्रश्न पूछते थे। बंगाली डॉक्टर है।

'**व्रत-तप-त्याग करनेसे आत्माके ऊपरका छालरूपी मैल निकल जाता है न?**' उतना तो आत्मा शुद्ध होता है न? ऊपर-ऊपर से उसका मैल-छिलका तो निकले। मूलमें से मैल भले ही न निकलता हो, लेकिन ऊपर-ऊपर से तो मैल धुलता है कि नहीं? व्रत-तप करता है, त्याग करता है तब मनुष्य अशुभ में नहीं जाता है न। विषयों का त्याग करता है, तप-व्रत में संयम रखता है तब अशुभ में नहीं जाता है इसलिये

उसकी ऊपर की छाल-मैल तो निकलता है न? ऐसा एक प्रश्न उठाया है।

उत्तर दिया है कि '**नहीं, यह तो राग है।**' ऐसा जो विचार आता है कि मैं इस पदार्थ का त्याग करूँ, इस विषय का त्याग करूँ, इतने व्रत लूँ, इतना संयम पालूँ, इस प्रकार का जो विकल्प है वह राग है। और '**इन व्रत-तप आदिके रागको अपना मानना-यह तो मिथ्यात्व है-अपराध है-भ्रमणा है।** ' गुरुदेवश्री की शैली यह थी कि सब से अधिक भयंकर मिथ्यात्वरूपी मैल है, मिथ्यात्वरूपी कलंक है, दोष है यह सब से बड़ा है। और वह उत्पन्न कहाँ से होता है? कि राग को स्व-रूप में, अपने रूप मानने से उत्पन्न होता है। जो जीव अशुभ रागरूप परिणमते हैं वे भी उस रूप स्वयं को मानते हैं और जो जीव शुभ रागरूप परिणमते हैं वे भी स्वयं को उस रूप मानते हैं। यह, मिथ्यात्व की अपेक्षा से दोनों एक ही कोटि के हैं, भिन्न-भिन्न कोटि के नहीं हैं।

लौकिक रीति से लोगों को अलग दिखता है कि यह त्यागी है और यह भोगी है। भोगी की अपेक्षा त्यागी अच्छा है। ऐसा ऊपर-ऊपर से लोग जगत में भेद करते हैं। परमार्थ के प्रकरण में इस प्रकार का भेद नहीं है। दूसरी तरह से पूरा विचार किया जाता है कि रागमात्र है उसको अपना मानना कि मैंने इतना अच्छा राग किया, मैंने किया, मेरा राग है और मैं राग करनेवाला हूँ, ऐसा करनेवाला मैं हूँ, गृहस्थ हूँ तो गृहस्थ के योग्य मुझे राग होता है न। इस प्रकार से राग को अपना मानना अथवा गृहस्थ हूँ, इस तरह गृहस्थी में अपनत्व मानना और त्याग करके, मैं त्यागी हूँ इस तरह त्यागी में अपनत्व मानना, ये दोनों एक ही बात हैं। दोनों कोई अलग-अलग बात नहीं है। ऐसा कहते हैं। इसलिये सीधा वहाँ से दिखाते हैं।

मिथ्यात्व है यह बड़ा अपराध है, वह बड़ा पाप है। वह स्वरूप की विस्मृति करानेवाली भ्रमणा है और किसी भी बहाने, इस भ्रमणा का सेवन करने जैसा नहीं है। फिर व्रत, तप, त्याग के बहाने भी यह भ्रमणा रहती हो तो उस भ्रमणा का पहले त्याग करना, भ्रमणा का त्याग हो यह वास्तविक त्याग है और उसमें शक्ति लगाना। बाह्य पदार्थ के त्याग में शक्ति को रोककर भ्रमणा को दृढ़ करने जैसा नहीं है। मिथ्यात्व दृढ़ हो यह तो विपरीत हो जायेगा। उसमें तो तूने शक्ति को मिथ्यात्व दृढ़ करने में लगायी, शल्य रह गया। यह विषय अपने आगे एक बार आ गया है। जैसे व्रत, तप, त्याग करने वाले को शल्य रहता है वैसे, क्षयोपशमम ज्ञान से, बहिर्लक्षी ज्ञान से लाभ होता है, उसको भी शल्य रह जायेगा। मिथ्यात्व का शल्य रह जायेगा।

वो तो मूल सम्यक्त्व का विषय ही यह है कि मूल स्वरूप सहज प्रत्यक्ष है, ऐसे स्वयं का प्रत्यक्ष स्वीकार करना यह सम्यक्त्व का स्वरूप है। इसके बजाय कोई भी पर्याय जो सापेक्ष है, कर्मसापेक्ष है, या तो उदय सापेक्ष है, या क्षयोपशम सापेक्ष है, या उपशम सापेक्ष है और यह क्षय सापेक्ष है। उदय, उपशम, क्षय और क्षायिक, इन चारों प्रकार की कर्म सापेक्ष पर्यायों को, इसके अतिरिक्त पर्याय होती नहीं, कर्म की अपेक्षा से अतिरिक्त पर्याय होती नहीं, कोई भी कर्म सापेक्ष अवस्था को अपनेरूप मानना यह मूल स्वरूप के विषय में भ्रमणा उत्पन्न करने का विषय है। मूल स्वरूप को ही स्वयं के रूप में मानना और उस मूल स्वरूप को कोई पर्यायवेश नहीं है। पर्याय का वेश है वह वेश है और मूल स्वरूप नहीं है। ऐसा प्रथम से ही श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिये। वचनामृत में एक बोल आता है। आत्मा को गृहस्थपना नहीं है, मुनिपना नहीं है और आत्मा को केवलज्ञान का भी वेश नहीं है। इस तरह सब बात ले ली है।

मुमुक्षु :- २४६.

पूज्य भाईश्री :- '**यदि ब्रह्मचर्य आदि व्रत ले, वस्त्रादि छोड़े तो उसे ऐसा लगता है कि मैं धर्ममार्गमें कुछ आगे बढ़ा हूँ,...**' बाह्य त्याग किया यानी मैंने मेरे आत्मा का कल्याण किया और धर्म में आगे बढ़ा। परन्तु जिसे आत्मा का भान नहीं है, मूल स्वरूप का जिसे भान नहीं है, ऐसा बेभान, मैंने यह किया, मैंने इसका त्याग किया, मैंने यह त्याग किया (ऐसे भाव में) उलटा शल्य बढ़ाकर मिथ्यात्व की पुष्टि

की है। आगे वह आ गया है।

मुमुक्षु :- मिथ्यात्व की पुष्टि की उसका फल क्या?

पूज्य भाईश्री :- परिभ्रमण। चार गति में परिभ्रमण होता है।

अतः इस तरह ऊपर-ऊपर की छाल-मैल धोने से आत्मा को कुछ लाभ होगा, ऐसा मानकर उसका आदर करने जैसा नहीं है। गाँगुली नहीं, यह तो गाँगुली के बहाने बात रखी है। सामान्य जगत में इस प्रकार की धर्म के विषय में भ्रमणा चलती है। आप के दिगंबर संप्रदाय में इतना साहित्य और ऐसा तत्त्व पड़ा है वहाँ भी यह भ्रमणा है, दूसरे की कहाँ बात करनी?

गुरुदेवश्री के पास एक दिगंबर भाई आये थे। (एक मुमुक्षु के) रिश्तेदार होते हैं। महाराज! आप का प्रवचन सुना, बहुत ज्ञान है। आप का ज्ञान तो बहुत है। लेकिन मेरी आप से एक विनंती है कि आप पड़िमा धारण कर लो तो पूरा दिगंबर समाज आप के चरणों में आ जायेगा। ठीक! क्या कहा? आप ब्रह्मचारी तो हैं। अब, यदि एक प्रतिमा धारण कर लो... तो गृहस्थ भी प्रतिमा धारण करते हैं। फिर छठवी प्रतिमा में ब्रह्मचर्य व्रत लेते हैं। ग्यारह प्रतिमा में छठवी प्रतिमा में ब्रह्मचर्य व्रत आता है। ब्रह्मचर्य तो आप पहले से ही पालते हो। अब बात रही, यदि आप प्रतिमा धारण करो यानी क्षुल्लक-इल्लक ऐसी कोई ग्यारहवी-बारहवीं प्रतिमा ले लो तो आप का त्यागी-वेश देखकर हमारा पूरा दिगंबर समाज आप को मानने लगेगा। क्योंकि लोगों को त्याग की महिमा है।

गुरुदेव कहते हैं कि इस तरह कृत्रिमता से प्रतिमा लेने का यह मार्ग नहीं है। और पूरे समाज को चरण चरण में लाने के लिये प्रतिमा लेनी यह तो लोकसंज्ञा हो गयी, वह तो मिथ्यात्वभाव हो गया, लोकसंज्ञा, लोकदृष्टि हो गई। लोगों को आकर्षित करने के लिये ऐसा करो, लोगों को आकर्षित करने के लिये ऐसा करो। ऐसी कहलानेवाली बाह्यधर्म की प्रवृत्ति लोकदृष्टि की मुख्यता से करना उचित नहीं है। यह प्रकार नहीं आना चाहिये। हमारे में भी यह प्रकार नहीं आना चाहिये।

आत्मदृष्टि से आत्महित करते-करते जो कोई बाह्य प्रवृत्ति हो जाये, करनी नहीं है अपितु हो जाये, निषेधपूर्वक हो जाये उसममें दूसरे को निमित्त का कारण बन जाये तो बन जाओ, मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। ऐसा होना चाहिये।

दूसरा प्रश्न किया है कि '**तो साधारण जीवोंको तो ये व्रतादि करना ठीक है न?**' ये तो ऐसी ऊँची-ऊँची बातें तो जो जीव गरहाई में गया हो वह करे, आगे बढ़े हों वे करे। जो सामान्य संसारी जीव हैं वे सब, व्रतादि धारण करे तो उनके लिये तो अच्छा है न? ऐसा '**नहीं, साधारण जीवोंको भी इन व्रतादिसे धर्म नहीं,...**' साधारण हो या विशेष हो, राग से धर्म नहीं है। वीतराग धर्म ऐसा जो धर्म का स्वरूप है वह रागपूर्वक और रागमय नहीं है। जिसमें राग है वह धर्म नहीं है। जिस पर्याय में रागत्व है वहाँ धर्म नहीं है। धर्मीजीव को भी जितना राग है उतना धर्म नहीं है। जितनी वीतरागता है उतना धर्म है, ऐसा है वास्तव में। अतः साधारण हो या विशेष हो, किसी को भी उस व्रतादिसे यानी व्रतादि के राग से धर्म नहीं है। और उस राग से '**इन से...**' यानी उस राग से '**इनसे जन्म-मरणका अन्त आने वाला नहीं,...**' राग तो नवीन जन्म-मरण करने का निमित्त कारण है। बाद में जन्म-मरण होते है। परन्तु यहाँ निमित्त है वह तो राग है। इससे उसका अंत आता है—नाश होता है यह बात तो रहती नहीं। जिससे उत्पन्न हो उससे नाश कैसे हो?

'**इनसे जन्म-मरणका अन्त आने वाला नहीं, इनमें लाभ-बुद्धिसे...**' यह मिथ्यात्व हो गया। उस व्रतादि का मुझे राग हुआ, ऐसा राग मैंने किया इसलिये मुझे लाभ हुआ, कुछ लाभ हुआ, थोड़ा तो लाभ हुआ। व्रतादि का दृष्टान्त है। शास्त्र वाचन और श्रवण होता है तो इतने घण्टे का शास्त्र स्वाध्याय किया, इतना पढ़ा, वाचन किया, श्रवण किया इसलिये कुछ लाभ हुआ, इस तरह राग से लाभ माने तो '**लाभ-बुद्धिसे तो जन्म-मरण बढ़ते हैं।**' जन्म-मरण नष्ट

होने का सवाल नहीं है, परन्तु जन्म–मरण बढ़ने का यह सवाल है। नुकसान होता है।

धर्म करने के बहाने धर्म के क्षेत्र में आये और नुकसान हो? कि हाँ। व्यापार करने को दुकान पर बैठे और व्यापार करना आये नहीं तो नुकसान होता है। यूँ ही व्यापार नहीं किया जाता। व्यापार करने के लिये भी उसकी प्रेक्टिकल ट्रेइनींग लेनी पड़ती है। भले ही स्कुल में बी.कोम. या एम.कोम. पढ़कर कॉलेजमें से आया हो और व्यापार ऐसे होता है और ऐसे हिसाब करते हैं, लाभ–नुकसान के सभी पहलू की जाँच करे और सब का ज्ञान हो, तो भी व्यापार करना यह दूसरी बात है। पढ़ना और गिनना, दो बात हमारे यहाँ कहते हैं। वह गिनना यानी प्रेक्टिकल ट्रेइनींग की बात है।

इस तरह यहाँ भी लाभबुद्धि है, जो कोई राग हो उसमें लाभबुद्धि है वह नुकसान का कारण है। अथवा जो कोई पर्याय हो उस पर्याय में आत्मबुद्धि है उसको पर्यायबुद्धि–पर्यायमूढाः परसमया कहने में आता है। आत्मा में आत्मबुद्धि करने के लिये स्वाध्याय है। स्वाध्याय की पर्याय में आत्मबुद्धि करने के लिये स्वाध्याय नहीं है। वह स्वाध्याय नहीं है। वहाँ उसने स्वाध्याय नहीं किया है, दूसरा कुछ किया है। नुकसान–मिथ्यात्व का पोषण करने का काम किया। स्वाध्याय तो उसको कहते हैं कि जो आत्मा में आत्मबुद्धि करने के प्रयत्न में ले जाये उसको स्वाध्याय कहने में आता है। ऐसे मूल में लेना। इसलिये व्रतादि, आदि में अनेक बोल ले लेना। लाभबुद्धि यानी हितबुद्धि यानी कल्याण का कारण माने उसको जन्म–मरण का नाश होने का कारण नहीं बनता।

***

पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के १११ वें जन्मजयंति महोत्सव प्रसंग पर सुवर्णपुरी सोनगढ़ में धार्मिक कार्यक्रम

पूज्य गुरुदेवश्री के महापुराण के पात्र ऐसे पूज्य निहालचंद्रजी सोगानीजी की १११ वीं जन्मजयंति उनकी साधनाभूमि सुवर्णपुरी में दि.१०–५–२०२२ से दि.१२–५–२०२२ त्रिदिवसीय धार्मिक कार्यक्रम सहित अत्यंत आनंद उल्लासपूर्वक मनाने का निश्चित किया गया है। यह धार्मिक कार्यक्रम सोनगढ़ स्थित गुरु–गौरव होल में मनाया जायेगा।

इस प्रसंग पर प्रातः पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा (आश्रम में), जिनदर्शन तथा पूजन जिनमंदिर में, पूज्य गुरुदेवश्री का सीडी प्रवचन स्वाध्याय मंदिर में, तत्पश्चात् पूज्य भाईश्री शशीभाई के द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथ पर 'गुरुगौरव' होल में प्रवचन, दोपहर में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, बादमें पूज्य सोगानीजी का गुणानुवाद गुरुगौरव होल में, रात्रि में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन और 'गुरुगौरव' होल में भक्ति एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम सहित मनाया जायेगा। दि.१२–५–२०२२ – पूज्य सोगानीजी के जन्मजयंती दिन पर पूज्य भाईश्री के प्रवचन के बाद जन्मवधामणा तथा भक्ति की जायेगी। इस प्रसंग में भारतवर्षीय सभी मुमुक्षु भाई–बहनों को पधारने का हार्दिक निमंत्रण है। आनेवाले मुमुक्षुओं को संख्या सहित अपने आने की जानकारी निम्नलिखित मोबाईल नंबर पर देने की विनंती।

संपर्क : श्री राजेन्द्र जैन, मो. ९८२५१५५०६६
आयोजक : श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट, भावनगर

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी'में से चयन किये गये अनुभवपूर्ण वचनामृत

सुख उपलब्धि

आत्मा सुखका अक्षयपात्र है। प्रदेश-प्रदेशमें अनन्त सुख-शांति भरे हैं। कितना भी सुख पीया जाये, परन्तु सुखधाममें से ज़रा सा भी कम होनेवाला नहीं है। सिर्फ जीवको इस विद्यमान सुखकी प्रतीति होनी चाहिए।

भ्रांतिगत्‌रूपसे जिन-जिन प्रसंगोंमें और पदार्थोंमें सुख भासित होता है, वह स्थिति आत्मामें सुखकी प्रतीति होनेमें बाधक है। सत्पात्रता आने पर भ्रांतिमें फर्क पड़ता है - कमज़ोर होती है और परभावमें दुःख लगना शुरू होता है। स्वरूप-सुखकी खोज भ्रांतिको कमज़ोर करती है। तब सुखको खोजनेवाला ज्ञान निजावलोकनमें 'ज्ञान स्वयं सुखरूप है' - ऐसी 'सुख-खान' का पता कर लेता है। अवलंबनभूत ऐसे सुखनिधानके अस्तित्वको देखते ही - ग्रहण करते ही, सुखप्राप्तिकी अनादिसे अपेक्षित वृत्ति ज़ोर करने लगे यह सहज और स्वाभाविक है - इस प्रकार आत्मिक सुखकी उपलब्धि है। (१०१६)

***

मनुष्यमात्रका ध्यान निरंतर सुखप्राप्तिका रहता है। माना हुआ - कल्पित सुखका ध्यान सहज रहता है, छूट नहीं सकता; तो फिर जिस ज्ञानीपुरुषको अपना अनन्त सुखधाम प्रत्यक्ष है, उन्हें अहोरात्र उसीका ध्यान रहे उसमें कौनसा आश्चर्य है?

जिस मुमुक्षुकी विचारदशामें संसार-दुःखसे निवृत्त होकर आत्मसुखकी प्राप्ति करनेका खयाल आता है, वह आत्मसुखको चाहता है। फिर भी पूर्व संस्कारित विपरीत परिणति अगर बलवान हो तो वह आकुलित होता है-आकुलित होना पड़ता है। वह जब तीव्र होवे तब उसमेंसे मार्गकी खोज होती है, और तभी मार्गकी प्राप्ति होती है। (१२५५)

***

वस्तुस्वरूपकी असंगता - भिन्नता, परमें अनादिसे सुखबुद्धि और आधारबुद्धिका अभाव करती है। ज्ञानका रूप 'सुख' अवलोकनमें आने पर स्वयं - सुखधामकी प्रतीति और अपनेमें सुखबुद्धि और आधारबुद्धि उत्पन्न होती है। जिसके कारण उपयोग सहज वहाँ खींचता है। उपयोगका झुकाव हमेशा सुखके निश्चयकी ओर सहज ही रहे, ऐसा वस्तु स्वभाव है। (१२९०)

***

सुखस्वभावी ऐसे जीवको, सुख चाहिए, उसके बिना चैन नहीं पड़ता, तृप्ति नहीं होती। निजसुखसे अनभिज्ञ होनेके कारण सुखार्थ अनेकविध पदार्थ-प्राप्तिकी इच्छा सहज हुआ करती है, जो कि स्वयं दुःखरूप - आकुलतारूप, अंतरदाहरूप है। ऐसे अंतरदाहको शांत करनेके लिए शांत - सुधारसमय ज्ञानस्वरूपमें अंतर्मुख होना- यह एक मात्र उपाय है। उपशमरससे त्रिविध तापाग्नि शांत होती है। - ऐसे ज्ञानीपुरुषके निश्चयको नमस्कार हो !!

(१३६३)

***

प्रश्न :- परपदार्थकी इच्छापूर्वक प्राप्ति हो, वहाँ दुःख कैसे लगे? उसमें तो सुखानुभव होना सहज है, ऐसा होनेका क्या कारण है ?

समाधान :- जब तक यथार्थरूपसे ज्ञानमें निर्मलता न आये तब तक सुखाभासमें 'वास्तविक सुखका' अन्भव होता है। ऐसी भूल यथार्थरूपसे दर्शनमोहका अनुभाग घटने पर पकड़में आती है। तब उस निर्मलतासे ज्ञानमें सुखका रूप मालूम पड़ता है। और आत्मामें अनन्त सुख है उसका निश्चय होता है। आकुलतारूप दुःख इच्छामें रहा है, उसमें सुखका अनुभव होना, यह ज्ञानका विपर्यास है। (१३९३)

***

वियोगका दुःख असह्य है। क्योंकि जीवने संयोगका रस-मिठास बहुत ली है। फिर भी यदि जीव आत्मकल्याणार्थ सत्पुरुष और सत्स्वरूपके वियोगकी वेदनामें आये तो वह आत्म-कल्याणकारी है। जिस वेदनाके गर्भमें (फलस्वरूप) सादि अनन्त स्वरूपका संयोग (!) सुखका अनुभव पड़ा है (रहेगा।) और कभी किसीके वियोगका दुःख भोगनेका अवसर ही नहीं आयेगा। (१६९६)

***

स्वरूप निश्चय

प्रश्न :- स्वरूपका निर्णय होता है और स्वरूपलक्ष होता है, तो इन दोनोंके बीच क्या सम्बन्ध है ?

समाधान :- निर्णय अर्थात् स्वरूपकी पहचान अथवा स्वरूपका निश्चय। और लक्ष माने पहचानमें आया हुआ परम प्रयोजनभूत ऐसा निज स्वरूपका ज्ञानमेंसे नहीं खिसकना वह। ऐसा लक्ष स्वरूपके निर्णयसे होता है। इसलिए निर्णय कारण है और लक्ष होना सो कार्य है। दोनों एक ही कालमें / समकालमें होते हैं। (१७२५)

***

स्वरूपकी पहचान किये बिना, सिर्फ जानकारी करके, ओघसंज्ञासे स्वरूपका चिंतवन, रटन करनेसे भावमें शुष्कता आती है, और स्वरूपकी महिमासे जिस प्रकारका पुरुषार्थमें उपाड़ आना चाहिए, वैसा नहीं आता। अत: स्वरूप लक्ष होनेके लिए ज्ञानियोंका उपदेश है, ऐसा समझने योग्य है। जब तक ओघसंज्ञा है तब तक ज्ञान जो है वह रागके आधारयुक्त व कल्पनायुक्त होता है। ज्ञानके आधारसे ज्ञानस्वभाव भासित होने पर चैतन्य वीर्यकी स्फुरणा होती है और स्वभावके समीप जाना होता है। (१७५६)

***

जिज्ञासा :- स्वरूपका अस्तित्व ग्रहण होने पर ज्ञानमें कैसी प्रतीति आती है?

समाधान :- स्वरूपके अस्तित्वमें अनन्त सामर्थ्य रहा है, वह 'स्व-रूपमें' प्रतिभासित होता है, अनन्त ज्ञान व अनन्त सुखकी खान प्रत्यक्ष होती है, तद्उपरांत एक ही समयमें उत्पाद-व्यय होनेसे और ज्ञानके सातत्यसे स्वयंकी नित्यता-शाश्वतता अवभासित होती है, जो कि अपने ध्रुव-कारण परमात्माका ग्रहण है, और इससे

(१) मृत्यु आदि सर्व प्रकारके भय मिटते हैं, और

(२) परकी-देहादिकी आधारबुद्धि व सुखबुद्धिरूप बड़े-बड़े विपरीत अभिप्रायोंका नाश होता है,

(३) कुतूहलवृत्तिका-परलक्षका पूर्णज्ञानकी प्रतीति नाश करती है,

(४) परिपूर्ण स्वरूपकी आधारबुद्धि अनादिसे चली आ रही दीनताको मिटाती है, और

(५) परसे उपेक्षित होकर यथार्थ उदासीनतामें लाती है, - यह उदासीनता अध्यात्मकी जननी है। - इस प्रकार

अनेक पहलूसे परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति आती है। (१७६७)

***

अवलोकनमें आगे बढ़े हुए जीवको अपूर्व अंतर जिज्ञासामें आना ज़रूरी है। स्वरूप सामर्थ्यका यथार्थ निश्चय हो, इसके लिए यह जिज्ञासा कारणभूत है; कि जिस जिज्ञासाके वशात् उदयमें सहज उदासीनता रहती है; और दर्शनमोहका अनुभाग अत्यंत मंद हो जाता है; जिसके कारण ज्ञान निर्मल होकर निजमें निज स्वभावको निजरूपमें ग्रहण करता है। ज्ञानमें स्वभाव प्रगट है; परन्तु निर्मलताके बिना निर्मल स्वभाव लक्षमें नहीं आता। (१७६९)

***

ज्ञान शब्द वाचक है, ज्ञान भाव उसका वाच्य है। जहाँ शब्द साधन है, वहाँ ज्ञान पदका अर्थ ज्ञानके अन्भवसे साध्य होना, वह ज्ञान-पदार्थका भावभासन है। ज्ञानका स्व-रूपमें भावभासन होते ही सहज ज्ञानरस – आत्मरस उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिनवाणीसे उपकार होता है। (१७९३)

***

जिज्ञासा :- प्रत्यक्ष ज्ञानीके योगमें परम सत्संग प्राप्त होनेके पश्चात् स्वरूपकी पहचान होनेके लिए कैसा प्रयास अपेक्षित है ?

समाधान :- स्वरूपकी पहचान है, वह बीजज्ञान है और सम्यक्त्वका अंग है। क्योंकि स्वभावके संस्कारका कारण होनेसे उसका महत्त्व बहुत है। उसकी पहचान ज्ञानलक्षण कि जो स्वसंवेदनरूप है, उससे होती है। लक्षणसे लक्षित हुआ निज परमात्मपदका लक्ष नहीं मिटता, और स्वरूप लक्षसे हुआ सामान्य ज्ञानके आविर्भावसे (विशेषज्ञानके तिरोभावपूर्वक) परमार्थ निर्विकल्प सम्यक्दर्शन और स्वानुभवकी प्राप्ति है।

वेदनभूत ऐसा जो ज्ञानलक्षण, वह सर्वकालमें जीवोंको प्रगट है, फिर भी ज्ञानकी निर्मलता व स्क्ष्मताके अभावके कारण मालूम नहीं पड़ता। अर्थात् भ्रांतिके कारण आवरण प्राप्त होनेसे मालूम नहीं पड़ता। वह (आवरण) दूर हो इसके लिए यथार्थ प्रकारसे विभावरस मंद पड़ना चाहिए, इसके अलावा चाहे कैसे भी उदयकालमें रस तीव्र नहीं हो इसकी जागृति रहनी चाहिए। विभावरस मंद होनेके लिए ज्ञानीपुरुषकी अचल प्रतीति समेत स्वच्छंद निरोध भक्ति, कि जिस भक्तिके सद्भावमें संसार भक्ति – संसार परिणतिका छेद होवे और (उदयमें) सहज विरक्ति रहे। दूसरा प्रयोग निज परिणामोंका सतत अवलोकन रहना वह है, कि जिस अवलोकनके अभ्याससे ज्ञान सूक्ष्म और निर्मल होकर ज्ञानवेदन तक पहुँच जाये, जिसके आधारसे स्वरूप पहचानमें आये। अवलोकनका अभ्यास विभावरसको तत्काल तोड़ता है, जिससे दर्शनमोहकी यथार्थ प्रकारसे हानि होती है, यह ज्ञानबल सहज बढ़नेसे मनोविकाररूप मन बिमार पड़ता है और भेदज्ञानके स्तरमें यथार्थ प्रकारसे मनोजय होता है। (१७९८)

***

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. १२-A

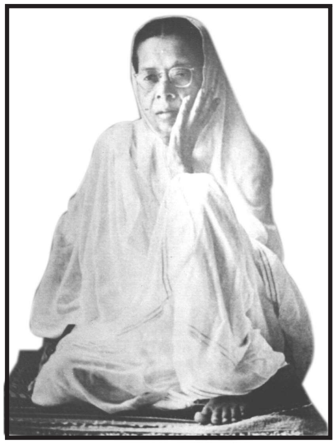

(१५:४० मिनट से ..)

मुमुक्षु :- माताजी! रुचि की अपेक्षासे विचार करें तो इस आत्मा के सिवा जितने भी परद्रव्य हैं वे भिन्न हैं, भिन्न हैं इसलिये उसकी सत्ता बिलकुल भिन्न है। राग है वह आकुलतारूप है। पर्याय है वह एक समय की क्षणिक है और भगवान आत्मा अथवा सामर्थ्यरूप पूरा स्वभाव अनादिअनन्त परिपूर्ण शुद्ध है। इसप्रकार चारों का ज्ञानसे विचार करें तो स्पष्ट दृष्टि, जो सुख चाहिये वह सुख ज्ञायक के सिवा अन्य किसीके आश्रयसे नहीं प्राप्त हो सकता। अब इसमें तो आप कहते हो वैसे पहले दृष्टि ही करनी है।

समाधान :- दृष्टि ही बदलनी है। विचारसे नक्की किया कि ज्ञायक में सुख है। परन्तु उस अनुसार उसकी दृष्टि बदलनी चाहिये। जो नक्की किया उस अनुसार उसकी दृष्टि बदलती नहीं, दृष्टि तो बाहर स्थिर हो गयी है, दृष्टि ज्ञायक पर जानी चाहिये।

मुमुक्षु :- अन्दर की महत्ता अधिक आनी चाहिये तो ही..

समाधान :- अन्दर की महत्ता, महिमा आनी चाहिये। बाहरसे उसका रस खत्म हो जाना चाहिये। अन्दर की महिमा आये तो उसकी दृष्टि पलटे। दृष्टि पलटने के लिये प्रयत्न चाहिये। उसे दुःख लगे, रुचि हो परन्तु थोड़ा-थोड़ा करके फिर छूट जाता है इसलिये ध्येय तक पहुँच नहीं पाता।

मुमुक्षु :- तीव्र रुचिसे पुरुषार्थ करना चाहिये?

समाधान :- तीव्र रुचिसे बारंबार पुरुषार्थ करना पड़ता है।

मुमुक्षु :- पलटते उपयोग को बारंबर पलटकर अन्दर ले जाना चाहिये कि मेरा स्वरूप..

समाधान :- दृष्टि पलटनी है। दृष्टि के साथ उपयोग पलटता है। दृष्टि बलपूर्वक एक ज्ञायक को निःशंकरूपसे ज्ञायक को ग्रहण करे। दृष्टि स्थिर हो जाय तो उपयोग भी उस ओर आ जाये।

मुमुक्षु :- अपनेआप पलटता है?

समाधान :- अपनेआप पलटता है। दृष्टि निज ज्ञायक पर जाये तो।

मुमुक्षु :- उपयोग अपनेआप पलट जाये तो उसमें पुरुषार्थ नहीं करना?

समाधान :- जिसप्रकार की उसकी दृष्टि हो उसप्रकारसे उसका उपयोग पलटता है, ऐसा कहना है। उपयोग पलटने का भी पुरुषार्थ तो होता है, परन्तु उपयोग बदलता रहे उसके साथे दृष्टि ज्ञायक पर जाये तो उपयोग अपनेआप स्वयं की ओर आता है। उसमें उपयोग का पुरुषार्थ सहज ही आ जाता है।

मुमुक्षु :- दृष्टि के साथ ज्ञान भी..

समाधान :- हाँ, साथ में है। उपयोग अर्थात् ज्ञान। दृष्टि के साथ ज्ञान पलटता है।

मुमुक्षु :- दृष्टि स्वरूप पर गयी हो तो पुरुषार्थ तो जागृत होना चाहिये, लेकिन पुरुषार्थ जागृत नहीं होता उसका मतलब की दृष्टि गयी ही नहीं? स्वरूप पर दृष्टि गयी ही नहीं?

समाधान :- दृष्टि स्वरूप पर गयी ही नहीं है। गयी हो तो उपयोग भी उस ओर जाये। दृष्टि पलटने का प्रयत्न करे। विचारसे नक्की करता है, परन्तु दृष्टि जो ज्ञायक को ग्रहण करके दृष्टि ज्ञायक की ओर जानी चाहिये वह नहीं गयी है। इसलिये उपयोग भी जाता नहीं। विचारसे नक्की करता है, उपयोग को बदलता रहता है। बारंबार विचार करे, निर्णय करे परन्तु दृष्टि जो ज्ञायक की ओर जानी चाहिये वह जाती नहीं, गयी नहीं।

मुमुक्षु :- दृष्टि गयी हो तो पुरुषार्थ उत्पन्न हो।

समाधान :- दृष्टि गयी हो तो पुरुषार्थ उत्पन्न हो जाय। दृष्टि ज्ञायक को ग्रहण करे तो उसके साथ पुरुषार्थ उत्पन्न हो जाता है। दृष्टि जाये उसके साथ पुरुषार्थ होता ही है। साथ-साथ पुरुषार्थ (होता ही है)। दृष्टि के पुरुषार्थ में सब पुरुषार्थ आ जाता है। दृष्टि ज्ञायक पर गयी, ज्ञायक को ग्रहण किया उसमें भेदज्ञान आ जाता है, उसमें ज्ञायक की ग्रहणता आ जाती है, उसमें लीनता का पुरुषार्थ (आ जाता है)। जो दृष्टि है वह निष्क्रिय नहीं है, उसमें पुरुषार्थ की धारा चालू होती है। उसमें एकाग्रता का पुरुषार्थ आ जाता है, सब आ जाता है।

मुमुक्षु :- बाहर के काम में तो काम नहीं हो तो आकुलता होती है और खेद होता है कि चलो, छोड़ो। लेकिन इसमें हमें ऐसी आकुलता और खेद होता हो तो क्या करना?

समाधान :- आकुलता और खेद होता हो तो उलझना नहीं, लेकिन शान्ति रखनी। परन्तु रुचि को छोड़ नहीं देना। आकुलता और जल्दबाजी नहीं करनी, शान्ति और धैर्यसे कार्य चालू रखना। रुचि को छोड़ना नहीं। होता नहीं, पुरुषार्थ चलता नहीं, परन्तु करना तो यही है, मुझे यही करना है। कार्य तो धीरे-धीरे भी चालू रखे, जल्दबाजी नहीं करे तो भी धीरे-धीरे कार्य तो (चालू रखना)। ज्ञायक को ग्रहण करने का कार्य छोड़ना नहीं। जहाँ जरूरत लगे वहाँ पुरुषार्थ हुए बिना रहता ही नहीं। उसे वास्तविक जरूरत लगे तो वह छोड़े ही नहीं कि जरूरत तो इसीकी है। बाहर में आकुलता लगे तो भी यदि उसकी जरूरत लगे तो चाहै जैसे भी करे। आकुलता लगे तो भी जरूरत लगी हो तो करता है। वैसे यदि आत्मा की जरूरत लगे तो वह अन्दरसे छोड़े ही नहीं। धीरे-धीरे करे। परन्तु जरूरत लगे तो वह उसके पीछे पड़ जाये।

मुमुक्षु :- कितनी जरूरत लगी है उसपर निर्भर करता है।

समाधान :- हाँ, जरूरत कितनी लगी उसपर निर्भर करता है।

मुमुक्षु :- स्वयं पर जिम्मेदारी डाल दी। जरूरत कितनी लगी है।

समाधान :- खुद पर ही है न सब। सब स्वयं के ऊपर है। स्वयं स्वाधीन है, स्वतन्त्र है।

मुमुक्षु :- गुरुदेव पोषाण शब्दप्रयोग करते थे।

समाधान :- हाँ, स्वयं को कितना पुसाता है। स्वयं स्वाधीन है, स्वयं भगवान आत्मा सर्व शक्तिमान है। सब ऐश्वर्यसे भरा है। स्वयं स्वयं का करने को सामर्थ्यवान है। कोई कर नहीं देता, स्वयं ही करनेवाला है। कोई कर दे तो स्वयं पराधीन हो गया। स्वयं ही शक्तिमान है। विभाव में जानेवाला स्वयं, स्वभाव में जानेवाला स्वयं ही है। देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त होता है। करना तो खुद को ही है।

मुमुक्षु :- स्वयं कितना पुरुषार्थ करता है उस पर..

समाधान :- हाँ, वह स्वयं को देखना है। धीरे-धीरे हो तो उसमें उलझन में नहीं आना, परन्तु छोड़ना नहीं।

मुमुक्षु :- प्रतिकुल संयोग ममें बिलकुल छोड़ना नहीं।

समाधान :- अपना कार्य छोड़ना नहीं। गुरुदेवने मार्ग बताया, सबको स्पष्ट हो गया। कहीं भी उलझने जैसा नहीं रहा। लौकिक में तो दूसरे तो कहीं-कहीं गोते खाते हैं, कहाँ-कहाँ मार्ग खोजते हैं, यहाँ-से मार्ग मिलेगा, इसमेंसे

मिलेगा, ध्यानमेंसे मिलेगा, ज्ञानमेंसे मिलेगा, वैराग्यमेंसे मिलेगा, भक्तिसे मिलेगा इसप्रकार सब जगह गोते खाता है। ऐसे में गुरुदेवने तो मार्ग ऐसा स्पष्ट कर दिया है कि अंतरमेंसे मार्ग मिलता है, उसके साथ सब जुड़ा होता है। तू तत्त्व का निर्णय कर, उसमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि सब जुड़ा होता है, तू यथार्थ निर्णय कर तो उसमें ध्यान आदि सब होता है। तत्त्व निर्णय यथार्थ हो तो उसमें पूरा मार्ग आ जाता है।

गुरुदेवने इतना मार्ग स्पष्ट कर दिया है, अब खुद को ही करना बाकी रहता है। स्वयं ही स्वयं के पुरुषार्थ की मन्दतासे अटका है और शान्तिसे, धैर्यसे करे तो होता है। आकुलता, जल्दबाजी करनेसे तो कुछ होता नहीं। भावना तीव्र रखे परन्तु उलझन में आ जाये ऐसा कुछ नहीं करना है।

मुमुक्षु :- उतने संस्कार पड़ जाये?

समाधान :- हाँ, संस्कार पड़ जाये तो भविष्य में संस्कार स्फुरित हो तो पुरुषार्थ उत्पन्न होने का कारण बनता है। संस्कार यथार्थ हो तो।

मुमुक्षु :- गुरुदेव के चरण में जो आये उसे अन्य कोई भ्रमणा नहीं है कि यहाँ-से मिलेगा और वहाँ-से मिलेगा।

समाधान :- हाँ, दूसरी भ्रमणा नहीं है अब। मार्ग स्पष्ट है।

मुमुक्षु :- फिर तो खुद जितना करे उतना होता है।

समाधान :- खुद करे उतना होता है। अन्य स्थान में खोजने जाना पड़े ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु :- मार्ग हाथ में दे दिया।

समाधान :- मार्ग हाथ में दे दिया है, स्पष्ट करके। द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप, सब एक-एक (बात)। निमित्त-उपादान का, केवलज्ञान का, चारित्र का, दर्शन का, सम्यग्दर्शन, स्वानुभूतति सब स्पष्ट किया है। निश्चयनय, व्यवहारनय सब अपेक्षाएँ (स्पष्ट) कर दी हैं। अब, खुद को ही करना बाकी रहता है। ज्ञान का मार्ग, ध्यान का मार्ग, भक्ति का मार्ग सबका स्वरूप समझाया है।

(२८:५० मिनट तक..)

***

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अप्रैल-२०२२) का शुल्क स्व. श्री हीरालालजी काला परिवार, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से, 'ज्ञानी-अज्ञानी का भेद' सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

अज्ञानी उत्पाद-व्यय के साथ-साथ चलता जाता है। (-पर्याय दृष्टि होनेसे-परिणाम का उत्पाद-व्यय होनेपर स्वयं का उत्पाद-व्यय अनुभवता है)। परंतु ज्ञानीने नित्य में (-द्रव्य में) अपना अस्तित्व स्थापित किया है अतः वह उत्पाद-व्यय के साथ नहीं चला जाता, किन्तु उत्पाद-व्यय को जान लेता है। ५७.

***

अज्ञानी को अकेले परिणाम का ही वेदन होता है। परिणाम के साथ ही समूचा अपरिणामी पड़ा है-उसका वेदन नहीं होता। लेकिन अपरिणामी में दृष्टि जमाकर, उसमें तादात्म्य होकर-प्रसरकर-अपनापन होते ही उसी क्षण में 'अपरिणामी' और 'परिणाम' दोनों का एक साथ अनुभव होता है। अकेले परिणाम का वेदन मिथ्यादृष्टि को ही होता है। ज्ञानी को तो एक साथ दोनों का (-द्रव्य और पर्याय का) अनुभव रहता है। (पर्याय स्वरूपाकार हो जाती है;-ऐसी पर्याय के अनुभव को अर्थात् द्रव्यस्वरूप के अभेदभावरूप अनुभव को द्रव्य का अनुभव कहने में आता है। वास्तव में अनुभव, पर्याय की सीमा का उल्लंघन नहीं करता। २०४.

***

बाहर के संग का निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी पर्याय के साथ है, मेरे साथ नहीं। लेकिन जिसको पर्याय में ही एकत्वबुद्धि है, उसकी बुद्धि तो निमित्त के साथ लंबाती है; किन्तु ज्ञानी को पर्याय में एकत्वबुद्धि नहीं है, इसीसे उसकी निमित्त के साथ भी एकत्वबुद्धि नहीं होती है। ३०७.

***

(अज्ञानी की) धारणा तो बंद तिजोरी के माफ़िक है, धारणा जवाब नहीं देती। प्रसंग आनेपर दुःख तो वेद ही लेवे, और फिर थोड़ी देर पीछे स्मरण करके समाधान करे-ऐसी धारणा का क्या? अनुभववाले की तो तिजोरी खुली हुई है। ४२३.

***

'पक्ष करना' कहने में आता है तो जीव पक्ष में बैठ जाता है। अरे भैया! (पक्षातिक्रांत होनेवाले को) पक्ष तो हो जाता है, (उसे) स्वभाव रुचता है तो स्वभाव का पक्ष हो ही जाता है। लेकिन पक्ष करने तक का ही प्रयोजन थोड़े ही है? ४२४.

***

अज्ञानी, उत्पाद-व्यय के साथ चला जाता है। ज्ञानी ने नित्य में (स्वभाव में) अपना अस्तित्व स्थापित किया है, जिससे वह उत्पाद-व्यय के साथ चला नहीं जाता, (उत्पाद-व्यय को) जान

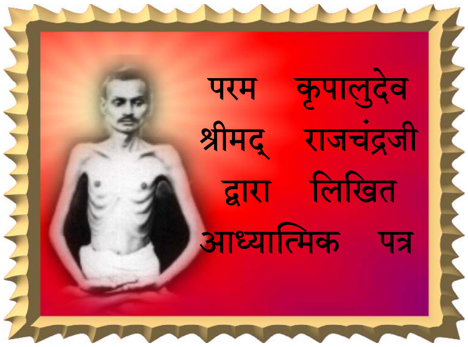

२९६

बंबई, १९४७

१. उदयको अबंध परिणामसे भोगा जाये तो ही उत्तम है।

२. दोके अंतमें रही हुई जो वस्तु, वह छेदनेसे छेदी नहीं जाती, भेदनेसे भेदी नहीं जाती।

–श्री आचारांग

२९७

बंबई, १९४७

आत्मार्थके लिये विचारमार्ग और भक्तिमार्ग आराधना करने योग्य हैं। परंतु विचारमार्गके योग्य जिसकी सामर्थ्य नहीं है, उसे उस मार्गका उपदेश करना योग्य नहीं है, इत्यादि जो लिखा वह यथायोग्य है। तो भी उस विषयमें कुछ भी लिखना अभी चित्तमें नही आ सकता।

श्री नागजीस्वामी द्वारा केवलदर्शन सम्बन्धी प्रदर्शित जो आशंका लिखी है उसे पढ़ा है। दूसरे अनेक प्रकार समझनेके बाद उस प्रकारकी आशंका शांत होती है अथवा प्रायः वह प्रकार समझने योग्य होता है। ऐसी आशंकाको अभी संक्षिप्त करके अथवा उपशांत करके विशेष निकटवर्ती आत्मार्थका विचार करना योग्य है।

२९८

ववाणिया, कार्तिक सुदी ४, १९४८

काल विषम आ गया है। सत्संगका योग नहीं है, और वीतरागता विशेष है, इसलिये कहीं भी चैन नहीं है, अर्थात् मन विश्रांति नहीं पाता। अनेक प्रकारकी विडंबना तो हमें नहीं है, तथापि निरंतर सत्संग नहीं है, यह बड़ी विड़ंबना है। लोकसंग नहीं रुचता।

***

(पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के वचनामृत...)

लेता है। (अज्ञानदशा में उत्पाद-व्ययरूप चलित भाव में अस्तित्व स्थापित रहने से स्वयं के अनित्यरूप का ही अनुभव वर्तता है। जब कि ज्ञानदशा में नित्यस्वभाव में अस्तित्व स्थापित होनेसे दोनों अंगों का एक साथ ज्ञान रहता है।) ५१९.

***